Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 3 | (July - September 2026)

हिंदी दलित कहानियों में मानवाधिकार और सामाजिक संघर्ष : एक पुनर्व्याख्या

संग्राम सिंह निराला [1], डॉ. बलजीत कौर [2]

[1] शोधार्थी, शासकीय विश्वनाथ यादव तामस्कर स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय, दुर्ग (छ.ग.)

[2] शोध निर्देशक, प्राचार्य, मोहन लाल जैन (मोहन भैय्या) शासकीय महाविद्यालय खुर्सीपार, भिलाई, दुर्ग (छ.ग.)

शोध सार

यह शोध-पत्र समकालीन हिंदी दलित कहानी में अंतर्निहित सामाजिक न्याय, मानवाधिकार और प्रतिरोध की चेतना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट करता है कि दलित साहित्य केवल निष्क्रिय रुदन या सहानुभूति का साधन नहीं, बल्कि शोषितों की मानवीय गरिमा और अधिकारों की पुनर्प्राप्ति का मुखर वैचारिक आंदोलन है। डॉ. अंबेडकर के 'सामाजिक लोकतंत्र' दर्शन पर आधारित यह कथा-साहित्य मुख्यधारा की आदर्शवादी न्याय-संकल्पनाओं को अस्वीकार कर भोगे हुए यथार्थ को बेबाकी से सामने लाता है। शोध में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय और सूरजपाल चौहान की चयनित कहानियों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि यह साहित्य सामंती भेदभाव, आर्थिक वंचना और संस्थागत असमानताओं के विरुद्ध प्रतिरोध की वैचारिक भूमिका निभाता है। आलेख दलित स्त्री-विमर्श की उन जटिलताओं को भी रेखांकित करता है, जहाँ स्त्री जातिवाद और पितृसत्ता के 'दोहरे अभिशाप' से लड़ते हुए अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए सक्रिय संघर्ष करती है। भाषाई स्तर पर यह अध्ययन 'भाषाई मानवाधिकार' की अवधारणा के माध्यम से बताता है कि कुलीन एकाधिकार को तोड़कर ठेठ देशज शब्दों का प्रयोग भाषाई दरिद्रता नहीं, बल्कि शोषक समाज के कठोर यथार्थ की अभिव्यक्ति है। समग्रतः यह शोध-पत्र हिंदी दलित कहानी को केवल रचनात्मक प्रवृत्ति न मानकर हाशिए के समाज को जुबान देने वाले स्वतंत्र भारत के महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं मानवाधिकार आंदोलनों में से एक के रूप में स्थापित करता है।

बीज शब्द- मानवाधिकार, सामाजिक न्याय, प्रतिरोध की चेतना, सामाजिक लोकतंत्र, दलित स्त्री-विमर्श, भाषाई मानवाधिकार, हाशिए का समाज, सामंती व्यवस्था, भोगे हुए यथार्थ

मूल आलेख –

यह अध्ययन चयनित दलित कहानियों के पाठ-विश्लेषण तथा समाजशास्त्रीय विवेचन पर आधारित है। साहित्य की चिर-परिचित परिभाषाओं में साहित्य को प्रायः समाज का दर्पण भर मान लिया जाता है, किंतु यह दृष्टिकोण एकांगी है। वस्तुतः रचनात्मक अभिव्यक्ति केवल घटनाओं का अक्स नहीं उतारती, बल्कि वह व्यवस्था में छिपी हुई विसंगतियों, अंतर्विरोधों और पाखंडों को उघाड़ने का एक अत्यंत सशक्त माध्यम भी होती है। भारतीय सामाजिक संरचना का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ सदियों से चली आ रही कठोर जाति-व्यवस्था ने आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को मनुष्य कहलाने के बुनियादी दर्जे से भी वंचित रखा। इसी ऐतिहासिक वंचना, पीड़ा, हाशिएकरण और मानवाधिकारों के निर्मम हनन के विरुद्ध एक मुखर साहित्यिक आंदोलन के रूप में 'दलित साहित्य' का प्रादुर्भाव हुआ। इस विमर्श का मूल ध्येय अपने दुखों का निष्क्रिय रुदन करना या सहानुभूति बटोरना नहीं है; इसके विपरीत, यह मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए किया गया एक शंखनाद है।

समकालीन हिंदी कथा-परिदृश्य में इस चेतना ने रचनाकर्म की दिशा और दृष्टि को आमूलचूल रूप से बदलकर रख दिया है। एक लंबे अरसे तक मुख्यधारा के साहित्य में न्याय, समानता और अधिकार जैसी अवधारणाएँ केवल

आदर्शवादी आवरण में लिपटी रहीं और उनका स्वरूप नितांत किताबी बना रहा। इसके ठीक उलट, दलित कहानियों ने जीवन के खुरदरे और भोगे हुए यथार्थ के धरातल पर उतरकर इन कोरी अवधारणाओं के खोखलेपन को पूरी बेबाकी से उजागर किया। भारतीय संविधान के प्रमुख शिल्पी और वंचितों के सबसे बड़े पैरोकार डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने समतामूलक समाज की वैचारिक बुनियाद रखते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है-"राजनीतिक लोकतंत्र तब तक टिक नहीं सकता जब तक कि उसके आधार में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ है जीवन का वह तरीका जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांतों के रूप में मान्यता देता है।"[1] बाबासाहेब का यह युगांतरकारी कथन समकालीन कहानियों के मूल दर्शन को परिभाषित करता है। आज की कथात्मक रचनाएँ महज़ मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि इसी 'सामाजिक लोकतंत्र' को अमलीजामा पहनाने और हाशिए के नागरिक को उसका हक़ दिलाने की अनवरत लड़ाई लड़ रही हैं। इस नए साहित्यिक विमर्श ने मानवाधिकार की बहस को केवल संविधान के पन्नों, वातानुकूलित कमरों या अदालती बहसों तक सीमित नहीं रहने दिया, बल्कि उसे खेत-खलिहानों, पसीने से लथपथ चौपालों और अभावग्रस्त बस्तियों के अंतिम व्यक्ति तक पहुँचा दिया है। प्रसिद्ध मराठी आलोचक और विचारक शरणकुमार लिंबाले अपनी बहुचर्चित कृति 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में इसी विद्रोही चेतना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखते हैं-"दलित साहित्य का मूल स्वर विद्रोह, नकार और वेदना का है। यह साहित्य स्थापित मान्यताओं को नकारते हुए समानता और न्याय की नई परिभाषा गढ़ता है।"[2]

लिंबाले की इसी प्रगतिशील वैचारिकी को हिंदी के कथाकारों ने अपनी रचना-प्रक्रिया का मुख्य आधार बनाया। उन्होंने मिथकों और कल्पनाओं के लोक से बाहर निकलकर यथार्थ की ठोस जमीन पर अपनी कथाओं का निर्माण किया। हिंदी के शीर्ष कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस भ्रांति को पूरी तरह तोड़ दिया कि साहित्य केवल फुरसत के क्षण बिताने का जरिया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में दृढ़ता से लिखा है-"दलित साहित्य यथार्थ का साहित्य है। यह भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है, जिसका उद्देश्य समाज की सोई हुई चेतना को झकझोरना और मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करना है।"[3] यह विचार इस बात को स्पष्ट करता है कि ये रचनाएँ केवल कलात्मक आनंद देने या भाषा के चमत्कार दिखाने के लिए नहीं रची जा रही हैं। ये उन लोगों की पीड़ा, छटपटाहट और आक्रोश का जीवंत दस्तावेज़ हैं, जिन्हें व्यवस्था ने हमेशा परिधि के बाहर रखा। यह विमर्श मनुष्य को उसकी खोई हुई गरिमा लौटाने और सामाजिक न्याय को धरातल पर उतारने का एक सशक्त वैचारिक माध्यम बन चुका है। अतः यह कहना तार्किक है कि यह लेखन मानवाधिकार आंदोलन का साहित्यिक विस्तार है।

किसी भी सभ्य समाज में मानवाधिकार का सबसे पहला और अनिवार्य नियम 'मानवीय गरिमा के साथ जीने का अधिकार' होता है। किंतु विडंबना यह रही है कि भारतीय उपमहाद्वीप की सामंती और जातिवादी संरचना ने एक पूरी आबादी से यह गरिमा क्रूरतापूर्वक छीन ली। हिंदी कथा-साहित्य में इस आत्मसम्मान को वापस पाने का संघर्ष बहुत प्रखरता के साथ उभरता है। वरिष्ठ साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय की रचनाएँ इस अमानवीय विडंबना का सजीव चित्रण करती हैं। उनकी बहुचर्चित कहानी 'अपना गाँव' पाठकों को इस कटु यथार्थ से परिचित कराती है कि किस प्रकार एक व्यक्ति के लिए उसकी अपनी जन्मभूमि ही पूरी तरह पराई हो जाती है, क्योंकि उस भूगोल में उसे एक जीते-जागते मनुष्य के रूप में स्वीकार ही नहीं किया जाता। उनकी रचनाओं में साहित्य छिने हुए अधिकारों की पुनर्प्राप्ति और सामाजिक न्याय की स्थापना का वैचारिक माध्यम बनकर उभरता है।[4]

मानवीय हक़ों के हनन और स्वाभिमान को कुचलने की सबसे वीभत्स तस्वीर ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रसिद्ध कहानी 'सलाम' में दृष्टिगोचर होती है। यह कथा एक ऐसी अपमानजनक सामंती प्रथा को केंद्र में रखती है, जहाँ नवविवाहित दलित युवक हरीश को अपनी शादी के तुरंत बाद सवर्णों की चौखट पर जाकर उन्हें 'सलाम' करना पड़ता है। यह

तथाकथित परंपरा केवल एक अभिवादन नहीं, बल्कि मानवाधिकारों का खुला उल्लंघन है। कहानी का नवविवाहित दलित पात्र हरीश इस प्रथा का विरोध करता है। महानगर से आया उसका शिक्षित मित्र कमल भी इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध खड़ा होता है। उनका यह नकार साबित करता है कि अब न्याय की माँग केवल रोटी, कपड़ा या मकान तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि यह सीधे तौर पर आत्मसम्मान और बराबरी की माँग में तब्दील हो चुकी है।

इस भेदभावपूर्ण व्यवस्था की जड़ों पर कड़ा प्रहार करते हुए प्रख्यात आलोचक कंवल भारती अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'दलित विमर्श की भूमिका' में लिखते हैं-"ब्राह्मणवादी व्यवस्था में न्याय की परिभाषा हमेशा शोषक के पक्ष में रही है। दलित साहित्य इस व्यवस्था के विरुद्ध एक बौद्धिक हस्तक्षेप है, जो न्याय को समता के तराजू पर तौलता है।"[5] यह गंभीर विश्लेषणात्मक टिप्पणी स्पष्ट करती है कि सदियों से चली आ रही वर्चस्ववादी संरचनाओं ने समाज में निष्पक्षता और न्याय की अवधारणा को गंभीर रूप से प्रभावित किया था। आज वंचित समाज की कलम केवल अपने घावों को सहलाने या पीड़ा का रुदन करने के लिए नहीं चल रही है। वह एक व्यापक वैचारिक धरातल पर उन तमाम अमानवीय नियमों, संहिताओं और स्मृतियों को प्रश्नांकित कर रही है।

यह साहित्यिक नवजागरण हाशिए के उस अंतिम व्यक्ति को उसके वास्तविक लोकतांत्रिक और संवैधानिक हक़ दिलाने का तार्किक माध्यम सिद्ध हो रहा है। कहानी 'सलाम' के पात्र इस परंपरा को मात्र एक रस्म नहीं मानते, बल्कि इसे दलितों के आत्मसम्मान को कुचलने और उन्हें उनकी 'औकात' याद दिलाने का एक संस्थागत हथियार मानते हैं। हरीश जब सवर्णों के घर जाकर 'सलाम' करने से स्पष्ट मना कर देता है, तो वह इसी व्यवस्था को उजागर करते हुए कहता है-"आप चाहे जो समझें...मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।"[6] इस रूढ़िवादी प्रथा के पीछे छिपे मनोविज्ञान को समझना आवश्यक है। इसके माध्यम से वर्चस्ववादी मानसिकता शोषितों को सदैव हीन भावना से ग्रस्त रखने और उन्हें मानसिक रूप से अधीन बनाए रखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती थी। अभिवादन की आड़ में छिपे इसी वर्चस्ववाद को सामने लाना समकालीन रचनाकार का प्रमुख लक्ष्य रहा है, ताकि पीढ़ियों से दबी और खामोश कर दी गई आवाज़ें अपना छीना हुआ स्वाभिमान वापस पा सकें। यह वैचारिक परिपक्वता इस बात की सूचक है कि अब कथाकार सामाजिक न्याय को किसी वर्ग की दया, खैरात या सहानुभूति के रूप में नहीं देखते, बल्कि इसे एक मनुष्य के रूप में अपने अविवादित जन्मसिद्ध अधिकार की तरह स्वीकार करते हैं।

किसी भी समाज के संपूर्ण विकास के लिए मानवाधिकार और सामाजिक न्याय की अवधारणा तब तक अधूरी है, जब तक उसे आर्थिक आज़ादी और शिक्षा के साथ न जोड़ा जाए। आर्थिक स्वतंत्रता और बौद्धिक चेतना के बिना समानता की बात करना केवल एक कोरी कल्पना के समान है। समकालीन कहानियाँ इस सत्य को प्रमुखता से रेखांकित करती हैं कि किस प्रकार धर्म और जाति के नाम पर एक बड़े वर्ग का योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक शोषण किया गया। प्रखर चिंतक डॉ. धर्मवीर इस आर्थिक-सामाजिक गठजोड़ को उजागर करते हुए लिखते हैं- "दलितों का शोषण केवल इसलिए नहीं हुआ कि वे अछूत थे, बल्कि अछूत उन्हें इसलिए बनाया गया ताकि वे मुफ्त और सस्ते श्रम के स्रोत बने रहें।"[7]

श्रम की इस लूट और वैचारिक पंगुता के विरुद्ध जागृति का उत्कृष्ट उदाहरण ओमप्रकाश वाल्मीकि की कालजयी कहानी 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' में देखने को मिलता है। इस कथा का किशोर पात्र सुदीप जब विद्यालय में जाकर गणित के पहाड़े सीखता है, तो उसके भीतर एक नई चेतना का जन्म होता है। उसे ज्ञात होता है कि पच्चीस को चार से गुणा करने पर सौ आता है। वहीं दूसरी ओर, गाँव का सामंत चौधरी उसके अनपढ़ और बेबस पिता से मज़दूरी का हिसाब

करते समय धूर्ततापूर्वक 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' बताता है, ताकि वह गरीब परिवार पीढ़ियों तक कर्ज़ के दुष्चक्र में फँसा रहे। भरी पंचायत में सुदीप का चौधरी की आँखों में आँखें डालकर यह कहना कि पच्चीस चौका सौ होता है, कोई साधारण गणितीय सुधार नहीं है। यह असल में सामाजिक न्याय की वह क्रांतिकारी पुनर्व्याख्या है, जहाँ एक हाशिए का लड़का ज्ञान की ताकत से अपने मानवाधिकार प्राप्त कर रहा है। शिक्षा से उपजी इस नई चेतना ने शोषित वर्ग की उस वैचारिक पंगुता को कैसे तोड़ा, इसे वाल्मीकि सुदीप के पिता के मार्मिक यथार्थ के माध्यम से इन शब्दों में उकेरते हैं-"उनका विश्वास जिसे पिछले तीस-पैंतीस सालों से वे अपने सीने में लगाए चौधरी के गुणगान करते नहीं अघाते थे, आज अचानक काँच की तरह चटककर उनके रोम-रोम में समा गया था। उनकी आँखों में एक अजीब-सी वितृष्णा पनप रही थी। जिसे पराजय नहीं कहा जा सकता था। बल्कि विश्वास में छले जाने की गहन पीड़ा ही कहा जाएगा।"[8] यह पीड़ा और वितृष्णा ही दरअसल उस प्रतिरोध का आरंभ है, जो सदियों के आर्थिक शोषण और अज्ञानता की नींव को पूरी तरह हिलाकर रख देता है।

शिक्षा ने सदियों से अंधकार में धकेले गए समाज को वह नई दृष्टि प्रदान की है, जिससे वह अपने विरुद्ध रचे गए शोषण के सूक्ष्म तंत्र को पहचान सके। यह ज्ञान केवल वर्णमाला रटने या साक्षर हो जाने तक सीमित प्रक्रिया नहीं है। यह वह अचूक अस्त्र है जिसने सदियों से बुनी गई वर्चस्ववादी संरचनाओं, झूठे मिथकों और धार्मिक पाखंडों की बुनियाद को हिलाकर रख दिया है। शिक्षा से उपजे इसी भय और सामंती प्रतिक्रिया को ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' का सवर्ण पात्र बल्लू रांघड़ इन शब्दों में व्यक्त करता है-"तभी तो कहूँ-जातकों (बच्चों) कू स्कूल ना भेजा करो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बनना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जांगे। यो न घर के रहेंगे न घाट के। गाँव की नाक तो तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी।"[9] यह सामंती प्रतिक्रिया स्पष्ट करती है कि शोषक वर्ग हाशिए के समाज और विशेषकर एक दलित लड़की की शिक्षा से कितना भयभीत रहता है। इसी चेतना का विस्तार आज का साहित्य कर रहा है, जिसका अंतिम लक्ष्य समाज को अधिक मानवीय, सहिष्णु और न्यायपूर्ण बनाना है। यह विमर्श किसी जाति विशेष के प्रति घृणा या संकीर्णता को प्रोत्साहित नहीं करता, बल्कि समता, बंधुत्व और करुणा पर आधारित एक सर्वसमावेशी लोकतांत्रिक परिवेश की मजबूत आधारशिला रखता है।

इसी बौद्धिक जागरण ने हिंदी कथा-जगत को एक नई और ऊर्जावान दिशा प्रदान की है। अब कहानियों के नायक भाग्य के भरोसे बैठकर रोने-बिलखने वाले लाचार प्राणी नहीं रह गए हैं। वे नियतिवाद के अंधकार से बाहर आ चुके हैं, तर्क करना सीख गए हैं और पूरी निर्भीकता के साथ सत्ता-प्रतिष्ठान से सीधे सवाल पूछते हैं। प्रश्न पूछने की आज़ादी और साहस ही दरअसल मानवाधिकार की दिशा में बढ़ाया गया पहला और सबसे ठोस कदम है। जब तक कोई शोषित व्यक्ति अपनी अमानवीय पीड़ा के कारणों का विश्लेषण नहीं करता और शोषक पर उँगली नहीं उठाता, तब तक उसके लिए न्याय की परिधि में प्रवेश करना भी असंभव होता है। ज्ञान और मुक्ति के इसी अंतर्संबंध को डॉ. अंबेडकर के शिक्षा-संबंधी चिंतन में केंद्रीय स्थान प्राप्त है।[10] इस विचार का सीधा अर्थ यही है कि वैचारिक दरिद्रता अंततः शारीरिक, मानसिक और आर्थिक गुलामी को पोषित करती है। जब कोई वंचित समूह शिक्षा के प्रकाश से अपने भीतर व्याप्त वैचारिक शून्यता को नष्ट कर देता है, तभी वह अपनी वास्तविक गरिमा को पहचानने के योग्य बनता है। यही नई समझ उसे उस निर्णायक लड़ाई के लिए तैयार करती है, जहाँ वह किसी से दया की भीख माँगने के बजाय अपने स्वाभिमान और सामाजिक हक़ का मुखर दावेदार बनकर उभरता है।

समानता और अधिकारों की कोई भी व्याख्या तब तक अपनी समग्रता को प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक उसमें आधी आबादी अर्थात् स्त्री के विमर्श को पूरी गंभीरता से शामिल न किया जाए। इस संदर्भ में दलित स्त्री की स्थिति अत्यंत जटिल है। वह केवल बाहरी जातिगत भेदभाव की शिकार नहीं होती, बल्कि उसे पितृसत्ता की दोहरी मार भी

सहनी पड़ती है। एक ओर उसे सामंती और जातिवादी पुरुष मानसिकता का सामना करना पड़ता है, तो दूसरी ओर अपने ही समुदाय के भीतर पुरुष वर्चस्व को भी झेलना पड़ता है।

सुप्रसिद्ध लेखिका सुशीला टाकभौरे ने इस विमर्श को एक नई ऊँचाई दी है और अपनी कहानियों के माध्यम से इसी गहरे दर्द और घुटन को स्वर प्रदान किया है। उनकी मर्मस्पर्शी कहानी 'सिलिया' एक ऐसी ही महिला के दोहरे शोषण और उसके द्वारा किए गए अभूतपूर्व प्रतिकार का जीवंत आख्यान है। टाकभौरे की रचनाओं में दलित स्त्री का संघर्ष जाति और पुरुषवादी मानसिकता-दोनों के विरुद्ध प्रस्तुत होता है; इसलिए उसके मानवाधिकारों की लड़ाई भी दोहरे स्तर पर चलती है।[11] यही वह 'दोहरा अभिशाप' है जो समकालीन साहित्य में स्त्री पात्रों को अन्य वर्गों की महिलाओं की तुलना में कहीं अधिक विद्रोही, साहसी और यथार्थवादी बनाता है। मुख्यधारा के स्त्री-विमर्श और इस हाशिए के स्त्री-विमर्श में एक बड़ा और बुनियादी अंतर है। जहाँ सवर्ण या मध्यमवर्गीय स्त्री अपनी अस्मिता, करियर या मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रही होती है, वहीं एक दलित स्त्री को इन सबसे पहले एक इंसान के रूप में अपनी न्यूनतम पहचान और दो वक्त की रोटी के जुगाड़ के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ता है। उसके लिए न्याय का अर्थ केवल पुरुषों के बराबर खड़ा होना नहीं है, बल्कि सबसे पहले समाज में अपने भौतिक अस्तित्व को बचाए रखना है। इसी पीड़ादायक श्रृंखला में कौशल्या बैसंत्री का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्त्री की इस असहनीय पीड़ा और दोहरे हाशिएकरण को मुखरता के साथ रेखांकित किया है। उनकी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' समाज के भीतर की विसंगतियों को रेखांकित करते हुए स्पष्ट करती है कि दलित समाज का उद्धार स्त्री को निर्णय लेने और सम्मान से जीने का अधिकार दिए बिना संभव नहीं है।[12] यह बेबाक आत्मकथ्य इस कठोर यथार्थ को सामने लाता है कि वंचित तबके की महिला को बाहर के भेदभाव के साथ-साथ अपने ही घर-आँगन में व्याप्त रूढ़िगत परंपराओं से भी लड़ना पड़ता है।

आज की कहानियों में यह स्त्री-चेतना एक बिल्कुल नए और मुखर रूप में आकार ले रही है। अब साहित्य में दर्ज महिला पात्र किसी कोने में बैठकर आँसू बहाने वाली, बेबस या केवल पाठकों की दया बटोरने वाली वस्तु नहीं रह गई हैं। इसके उलट, वे अपने बुनियादी मानवाधिकारों को दृढ़तापूर्वक हासिल करने के लिए अग्रिम मोर्चे पर खड़ी हैं। वे एक साथ कई मोर्चों पर संघर्षरत हैं-बाहर वे शक्तिशाली सामंती ताकतों को चुनौती दे रही हैं, तो घर के भीतर उस पुरुषवादी वर्चस्व को चुनौती दे रही हैं जिसने उन्हें सदियों से दोयम दर्जे का नागरिक बना रखा था।

सामाजिक न्याय की स्थापना में किसी भी देश की राज्य व्यवस्था, उसका प्रशासन और उसका कानून अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार होते हैं। आदर्श स्थिति में इन संस्थाओं को कमज़ोरों का सबसे बड़ा रक्षक होना चाहिए। किंतु इन कहानियों का यथार्थ इन संस्थाओं की सीमाओं और पक्षपातपूर्ण व्यवहार को भी सामने लाता है। रचनाकार यह उद्घाटित करते हैं कि पुलिस, स्थानीय प्रशासन और न्याय-प्रणाली की संस्थागत मशीनरी प्रायः प्रभावशाली वर्गों से प्रभावित रहती है। सत्ता के इस पक्षपातपूर्ण और संवेदनहीन रवैये ने शोषित वर्ग को यह भली-भाँति समझा दिया है कि न्याय उन्हें स्वतः प्राप्त नहीं होगा। उन्हें अपने अस्तित्व को बचाने और न्याय पाने की यह कठिन लड़ाई किसी सरकारी दफ्तर की दया पर नहीं, बल्कि अपनी वैचारिक दृढ़ता और एकजुटता के बल पर लड़नी होगी।

सामाजिक पूर्वाग्रह का एक गंभीर चित्र कथाकार सूरजपाल चौहान की बहुचर्चित कहानी 'हैरी कब आएगा' में उभरता है। कहानी में हैरी मोनिका से विवाह करना चाहता है और उसके प्रति गहरा लगाव व्यक्त करता है, किंतु जैसे ही उसे मोनिका की अनुसूचित जाति की पहचान का पता चलता है, उसका व्यवहार बदल जाता है और वह विश्वविद्यालय आना बंद कर देता है। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि शिक्षा और आधुनिक जीवन-शैली के बावजूद जातिगत पूर्वाग्रह

व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं। कहानी सामाजिक समानता के दावों और व्यवहारगत भेदभाव के बीच उपस्थित अंतर्विरोध को प्रभावशाली ढंग से सामने लाती है।[13]

कहानी का यह प्रसंग इस बात को पुष्ट करता है कि सामाजिक न्याय केवल कानूनी प्रावधानों से पूर्ण नहीं होता; उसके लिए सामाजिक व्यवहार और मानसिकता में भी परिवर्तन आवश्यक है। साहित्य ऐसे अनुभवों को अभिव्यक्ति देकर भेदभाव की उन संरचनाओं को सामने लाता है, जिन्हें सामान्य सामाजिक व्यवहार में प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। प्रतिबद्ध लेखक की कलम खामोश कर दी गई आवाज़ों को अभिव्यक्ति प्रदान करती है और पाठक को उस मानवीय पीड़ा से जोड़ती है। इस प्रकार साहित्य अन्याय के अनुभवों को दर्ज करते हुए एक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज की आवश्यकता को रेखांकित करता है। इस विमर्श ने सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की पुनर्व्याख्या केवल कथ्य, पात्रों या विषय-वस्तु के स्तर पर ही नहीं की है, बल्कि भाषा, व्याकरण और शिल्प के स्तर पर भी एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक परिवर्तन को जन्म दिया है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मुख्यधारा के कुलीन और अभिजात्य साहित्य ने लंबे समय तक भाषा के सौंदर्यशास्त्र पर अपना प्रभाव बनाए रखा था। जिन ठेठ, देशज और श्रमशील शब्दों को 'अशिष्ट', 'असभ्य' या 'असंसदीय' कहकर साहित्यिक परिधि से बाहर रखा गया था, आज हाशिए के साहित्य ने उन्हीं उपेक्षित बोलियों को अपने सशक्त प्रतिरोध का महत्त्वपूर्ण माध्यम बना लिया है। यह केवल शब्दों का फेरबदल नहीं, बल्कि उस सांस्कृतिक आधिपत्य और भाषाई वर्चस्व को दी गई चुनौती है, जिसने लंबे समय तक अभिव्यक्ति के साधनों को सीमित कर रखा था।

अपनी भाषा, अपनी बोली और अपने शब्दों के इसी स्वाभिमान की वकालत करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि भाषाई शुद्धतावाद पर प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार दलित जीवन की खुरदरी वास्तविकता उसकी भाषा में भी अभिव्यक्त होती है; इसलिए उसे किसी कृत्रिम या उधार ली हुई भाषिक संरचना में बाँधना उचित नहीं है।[14] यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि सदियों से पीसे जा रहे वर्ग की चीख, उसकी भुखमरी और उसके अपमान को सुंदर अलंकारों, रस या छंदों के मखमली आवरण में लपेटकर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। पीड़ा का अपना एक अलग व्याकरण होता है। यह 'भाषाई मानवाधिकार' इन कहानियों को जीवन के यथार्थ के इतने करीब ले जाता है कि वहाँ से एक नया और अनुभूत सौंदर्यशास्त्र जन्म लेता है।

निष्कर्ष-

समकालीन हिंदी दलित कहानियों ने यह स्पष्ट किया है कि कला या साहित्य के क्षेत्र में अपने भोगे हुए यथार्थ को बिना किसी कृत्रिम आवरण के प्रस्तुत करना मानवाधिकार का एक अभिन्न हिस्सा है। विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों द्वारा रची गई सौंदर्यशास्त्रीय दीवारों को हटाकर हाशिए के समाज ने अपना सत्य अपने ही शब्दों में रचा है। इन कथाओं में गालियों, ठेठ देशज शब्दों और मुहावरों का प्रयोग लेखकों की भाषाई दरिद्रता नहीं है। इसके विपरीत, यह शोषक समाज के कठोर यथार्थ का प्रत्यक्ष चित्रण है। सदियों के अमानवीय अत्याचार और संताप को कोमल या संस्कृतनिष्ठ शब्दावली में छिपाना उस यथार्थ को अस्पष्ट करना होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि इन कहानियों ने लंबे समय तक मौन रखे गए समाज को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। यह मात्र एक क्षणिक साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि स्वतंत्र भारत के महत्त्वपूर्ण मानवाधिकार आंदोलन का एक सशक्त सांस्कृतिक पक्ष है। आज यह विमर्श कागजी और अदालती न्याय की सीमाओं से आगे निकलकर वैचारिक धरातल पर मानवीय गरिमा, समानता और स्वतंत्रता के लिए सार्थक संघर्ष कर रहा है, जिसकी परिणति एक अधिक समतामूलक और लोकतांत्रिक भारत के निर्माण में हो सकती है।

संदर्भ सूची

1. अंबेडकर, डॉ. बी.आर.। 1949। संविधान सभा में समापन भाषण (25 नवंबर 1949)। संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 11।
2. लिंबाले, शरणकुमार। 2020। दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र। नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 23
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश। 2019। दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र। नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 14
4. तिवारी, बजरंग बिहारी। 2023। दलित साहित्य : एक अंतर्यात्रा। गाजियाबाद : नवारूण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 32
5. भारती, कंवल। 2014। दलित विमर्श की भूमिका। ग्वालियर : इतिहासबोध प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 56
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश। 2023। सलाम। नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 17
7. धर्मवीर। 2020। दलित चिंतन का विकास। नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 78
8. वाल्मीकि, ओमप्रकाश। 2023। सलाम। नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 84
9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश। 2023। सलाम। नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 18
10. अंबेडकर, डॉ. बी.आर.। 2025। अछूत कौन और कैसे। नोएडा : सेतु प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 81
11. टाकभौरे, सुशीला। 2011। शिकंजे का दर्द। नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
12. बैसंत्री, कौशल्या। 2012। दोहरा अभिशाप। दिल्ली : परमेश्वरी प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 15
13. चौहान, सूरजपाल। 2003। हैरी कब आएगा। नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
14. वाल्मीकि, ओमप्रकाश। 2019। दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र। नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन। पृष्ठ संख्या 105